Date of Submission: 14/7/2026
Date of Review: 27/7/2026
Date of Publication: August 2026

शिक्षा और संस्कृति : परंपरा, परिवर्तन और समकालीन पुनर्सृजन

सुभाष चौहान

'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'[1]

अज्ञान से ज्ञान की ओर, जड़ता से चेतना की ओर तथा सीमित दृष्टि से व्यापक मानवीय बोध की ओर अग्रसर होने का यह उपनिषद्-वाक्य भारतीय शिक्षा-दर्शन की मूल संवेदना को अभिव्यक्त करता है। भारतीय बौद्धिक परंपरा में शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना का संचरण अथवा कौशल का अर्जन नहीं रहा, बल्कि व्यक्ति के आत्मबोध, नैतिक परिष्कार, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सांस्कृतिक चेतना का विकास रहा है। इस दृष्टि से शिक्षा समाज की सांस्कृतिक स्मृति को संरक्षित करने के साथ-साथ उसके सतत् पुनर्निर्माण की भी आधारशिला है।

समकालीन वैश्विक परिदृश्य में शिक्षा और संस्कृति का संबंध पहले की अपेक्षा अधिक जटिल, बहुआयामी और परिवर्तनशील हो गया है। वैश्वीकरण, ज्ञान-अर्थव्यवस्था, डिजिटल प्रौद्योगिकियाँ, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, अंतरराष्ट्रीय शैक्षिक प्रतिस्पर्धा तथा तीव्र सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन ने शिक्षा की भूमिका को पारंपरिक ज्ञान-संप्रेषण से आगे बढ़ाकर सामाजिक रूपांतरण, सांस्कृतिक पहचान, लोकतांत्रिक नागरिकता और सतत् विकास के प्रश्नों से जोड़ दिया है।[2] परिणामस्वरूप शिक्षा अब केवल सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण का माध्यम नहीं रह गई है, बल्कि वह सांस्कृतिक अर्थों, सामाजिक संबंधों और ज्ञान-व्यवस्थाओं के पुनर्गठन में सक्रिय हस्तक्षेप करने वाली संस्था के रूप में उभरती है।[3]

शिक्षा और संस्कृति के संबंध पर उपलब्ध साहित्य में दो प्रमुख वैचारिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। पहली प्रवृत्ति शिक्षा को संस्कृति के संरक्षण, सामाजिक निरंतरता और मूल्य-संवहन की प्रक्रिया के रूप में देखती है[4], जबकि दूसरी प्रवृत्ति उसे सामाजिक परिवर्तन, आलोचनात्मक चेतना और सांस्कृतिक पुनर्संरचना के माध्यम के रूप में व्याख्यायित करती है।[5] समकालीन शिक्षा-विमर्श में यह प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो गया है कि क्या शिक्षा केवल विद्यमान सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं का

पुनरुत्पादन करती है, अथवा वह उन्हें चुनौती देकर अधिक समतामूलक, बहुलतावादी और लोकतांत्रिक सांस्कृतिक व्यवस्था के निर्माण में भी योगदान देती है।[6] यही प्रश्न वर्तमान अध्ययन की वैचारिक आधारभूमि का निर्माण करता है।

भारतीय संदर्भ में यह विमर्श और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ शिक्षा ने विभिन्न ऐतिहासिक चरणों—प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा, औपनिवेशिक शिक्षा-व्यवस्था, स्वतंत्रता-उपरांत राष्ट्र-निर्माण तथा समकालीन वैश्वीकरण और डिजिटलीकरण—में संस्कृति के संरक्षण और पुनर्निर्माण, दोनों प्रक्रियाओं को प्रभावित किया है। विशेषत: नई शिक्षा नीति 2020 ने भारतीय ज्ञान-परंपरा, बहुविषयक अधिगम, मातृभाषा, समावेशिता तथा वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है।[7] इसके साथ ही कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्लेटफॉर्म, एल्गोरिद्मिक ज्ञान-वितरण तथा डिजिटल विभाजन जैसे उभरते आयाम यह संकेत देते हैं कि शिक्षा का सांस्कृतिक स्वरूप निरंतर पुनर्परिभाषित हो रहा है।

यद्यपि शिक्षा और संस्कृति पर पर्याप्त दार्शनिक, समाजशास्त्रीय तथा नीतिगत साहित्य उपलब्ध है, तथापि अधिकांश अध्ययन शिक्षा को या तो सांस्कृतिक पुनरुत्पादन अथवा सांस्कृतिक संरक्षण की दृष्टि से विश्लेषित करते हैं। अपेक्षाकृत कम अध्ययन शिक्षा को एक ऐसी गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, जो ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के बीच संस्कृति के पुनर्निर्माण, पुनर्व्याख्या तथा लोकतांत्रिक विस्तार में सक्रिय भूमिका निभाती है। यही वैचारिक रिक्ति इस अध्ययन की प्रेरणा है।

इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य शिक्षा और संस्कृति के अंतर्संबंध का ऐतिहासिक, दार्शनिक, तुलनात्मक तथा दस्तावेज़ीय विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित करना है कि शिक्षा केवल संस्कृति का निष्क्रिय प्रतिबिंब नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की एक सक्रिय, बहुस्तरीय और परिवर्तनकारी सामाजिक प्रक्रिया है। अध्ययन यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि समकालीन भारत में शिक्षा की भूमिका को केवल सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण तक सीमित नहीं रखा जा सकता; उसे सामाजिक न्याय, आलोचनात्मक चिंतन, सांस्कृतिक बहुलता, डिजिटल नागरिकता तथा मानवीय मूल्यों के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए सांस्कृतिक लोकतंत्र के सुदृढ़ीकरण की दिशा में पुनर्परिभाषित किया जाना आवश्यक है।

प्रस्तुत अध्ययन शिक्षा को संस्कृति के पुनर्निर्माण, पुनर्व्याख्या तथा लोकतांत्रिक विस्तार की सक्रिय सामाजिक शक्ति के रूप में समझने के लिए विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोणों का समन्वित उपयोग करता है।

इस वैचारिक रूपरेखा का प्रथम आधार एंटोनियो ग्राम्शी का सांस्कृतिक वर्चस्व (Cultural Hegemony) सिद्धांत है, जिसके अनुसार शिक्षा प्रभुत्वशाली विचारों के पुनरुत्पादन का माध्यम होने के साथ-साथ वैकल्पिक सामाजिक चेतना के निर्माण का भी क्षेत्र बन सकती है।[8] यह दृष्टिकोण अध्ययन को यह समझने में सहायता प्रदान करता है कि शिक्षा सांस्कृतिक सत्ता-संबंधों को केवल प्रतिबिंबित नहीं करती, बल्कि उन्हें चुनौती देने और पुनर्गठित करने की क्षमता भी रखती है।

द्वितीय आधार पियरे बुरदिये की सांस्कृतिक पूंजी, हैबिटस तथा सामाजिक पुनरुत्पादन की अवधारणाएँ हैं।[9] ये अवधारणाएँ स्पष्ट करती हैं कि शिक्षा सामाजिक संरचनाओं से पृथक नहीं होती; तथापि प्रस्तुत अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि आलोचनात्मक, समावेशी और लोकतांत्रिक शिक्षा इन्हीं संरचनात्मक सीमाओं के भीतर परिवर्तनकारी हस्तक्षेप भी कर सकती है। इस प्रकार अध्ययन बुरदिये के पुनरुत्पादन सिद्धांत को स्वीकार करते हुए शिक्षा की पुनर्निर्माणकारी क्षमता पर विशेष बल देता है।

तृतीय आधार पाउलो फ्रेरे के आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र का है, जिसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य तथ्यों का निष्क्रिय संचरण नहीं, बल्कि आलोचनात्मक चेतना (Critical Consciousness) का विकास है।[10] इस अध्ययन में शिक्षा को ऐसी संवादपरक प्रक्रिया के रूप में देखा गया है जो व्यक्तियों को सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संरचनाओं का समालोचनात्मक विश्लेषण करने तथा परिवर्तनकारी सामाजिक भूमिका निभाने के लिए सक्षम बनाती है।

लोकतांत्रिक शिक्षा की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए जॉन डूई के अनुभवाधारित अधिगम तथा लोकतांत्रिक समाज संबंधी विचारों का उपयोग किया गया है।[11] इसी क्रम में माइकल एप्पल के पाठ्यचर्या, ज्ञान और सत्ता संबंधी विश्लेषण,[12] हेनरी गिरू की लोकतांत्रिक नागरिकता एवं सार्वजनिक शिक्षाशास्त्र की अवधारणा,[13] तथा बेसिल बर्नस्टीन के ज्ञान, भाषा और सामाजिक संरचना संबंधी सिद्धांत[14] अध्ययन को यह समझने का वैचारिक आधार प्रदान करते हैं कि शिक्षा के माध्यम से सांस्कृतिक अर्थों का निर्माण, पुनर्संरचना तथा वैधीकरण किस प्रकार होता है।

उत्तर-औपनिवेशिक संदर्भ में एडवर्ड सईद, न्गूगी वा थ्योंगो तथा आशीष नंदी के विचार औपनिवेशिक ज्ञान-संरचनाओं, भाषायी प्रभुत्व तथा मानसिक उपनिवेशवाद की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।[15] इन दृष्टिकोणों के माध्यम से अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि शिक्षा सांस्कृतिक पहचान, भाषिक विविधता तथा ज्ञान की स्वायत्तता के

प्रश्नों से गहराई से जुड़ी हुई है।[16] नंदी के विचार औपनिवेशिक मानसिकता तथा आत्म-पुनर्प्राप्ति के आयाम को भी रेखांकित करते हैं।[17]

समकालीन वैश्विक संदर्भ को समझने के लिए मैनुएल कास्टेल्स की नेटवर्क समाज की अवधारणा, अर्जुन अप्पादुरई के वैश्विक सांस्कृतिक प्रवाह तथा ज़िग्मुंट बाउमन की तरल आधुनिकता की अवधारणाओं को सहायक विश्लेषणात्मक दृष्टियों के रूप में ग्रहण किया गया है।[18] इनसे स्पष्ट होता है कि डिजिटल प्रौद्योगिकियाँ, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और वैश्विक संचार नेटवर्क शिक्षा तथा संस्कृति के संबंधों को निरंतर पुनर्परिभाषित कर रहे हैं।

साहित्य समीक्षा

शिक्षा और संस्कृति के अंतर्संबंध पर विमर्श सामाजिक विज्ञान, शिक्षा-दर्शन तथा सांस्कृतिक अध्ययन के प्रमुख बौद्धिक क्षेत्रों में लंबे समय से विद्यमान रहा है। प्रारम्भिक अध्ययनों में शिक्षा को मुख्यत: समाज की सांस्कृतिक परंपराओं, नैतिक मूल्यों तथा ज्ञान-व्यवस्थाओं के संरक्षण के माध्यम के रूप में देखा गया।[19] शिक्षा को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सांस्कृतिक ज्ञान और मूल्यों के हस्तांतरण की प्रक्रिया के रूप में भी समझा गया है।[20] किंतु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से शिक्षा के समाजशास्त्रीय और आलोचनात्मक अध्ययनों ने यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा केवल सांस्कृतिक विरासत का संवाहक नहीं है, बल्कि सत्ता-संबंधों और वैचारिक संरचनाओं के निर्माण तथा पुनरुत्पादन में भी सक्रिय भूमिका निभाती है।[21] शिक्षा सामाजिक असमानताओं के पुनरुत्पादन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।[22]

एंटोनियो ग्राम्शी ने सांस्कृतिक वर्चस्व की अवधारणा के माध्यम से स्पष्ट किया कि शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने वाली संस्था नहीं, बल्कि सामाजिक सहमति के निर्माण और प्रभुत्वशाली विचारधाराओं के वैधीकरण का माध्यम भी है।[23] इसी प्रकार बुरदिये और पासेरों ने सांस्कृतिक पूंजी, हैबिटस (Habitus) तथा पुनरुत्पादन की अवधारणाओं के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया कि औपचारिक शिक्षा अनेक परिस्थितियों में सामाजिक असमानताओं को कम करने के बजाय उन्हें संस्थागत रूप प्रदान करती है।[24] इन अध्ययनों ने शिक्षा को मूल्य-तटस्थ प्रक्रिया मानने की पारंपरिक धारणा को गंभीर चुनौती दी।

आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में पाउलो फ्रेरे ने शिक्षा को सामाजिक मुक्ति और आलोचनात्मक चेतना के विकास का माध्यम माना।[25] उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि ऐसी वैचारिक क्षमता का विकास करना है जिसके माध्यम से

शिक्षार्थी सामाजिक यथार्थ का आलोचनात्मक विश्लेषण कर सकें। इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए माइकल एप्पल ने पाठ्यचर्या, ज्ञान और सत्ता के अंतर्संबंधों का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा में चयनित ज्ञान स्वयं राजनीतिक एवं वैचारिक प्रक्रियाओं का परिणाम होता है।[26] हेनरी गिरू ने शिक्षा को लोकतांत्रिक नागरिकता, सार्वजनिक बौद्धिकता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्माण का माध्यम माना।[27] वहीं बेसिल बर्नस्टीन ने भाषा, पाठ्यचर्या और सामाजिक वर्ग के संबंधों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट किया कि ज्ञान का संगठन और उसका संप्रेषण सामाजिक संरचनाओं से गहराई से प्रभावित होता है।[28]

भारतीय संदर्भ में शिक्षा और संस्कृति के संबंध का विमर्श विशिष्ट ऐतिहासिक और दार्शनिक आधार रखता है। प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा में शिक्षा को व्यक्ति के बौद्धिक विकास के साथ-साथ नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक संस्कारों के विकास का माध्यम माना गया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और डॉ. भीमराव अंबेडकर ने शिक्षा को सामाजिक पुनर्निर्माण, लोकतांत्रिक चेतना और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के प्रमुख साधन के रूप में देखा। स्वतंत्रता-उपरांत शिक्षा संबंधी विभिन्न आयोगों तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों ने भी शिक्षा को राष्ट्र-निर्माण, सामाजिक समावेशन तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के संवर्धन से जोड़ा है।[29]

औपनिवेशिक शिक्षा के प्रभावों का विश्लेषण करने वाले विद्वानों ने यह इंगित किया है कि औपनिवेशिक शासन ने शिक्षा को प्रशासनिक नियंत्रण, भाषायी प्रभुत्व और सांस्कृतिक पुनर्संरचना के उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया। एडवर्ड सईद के ओरिएंटलिज़्म का विश्लेषण औपनिवेशिक ज्ञान-संरचनाओं और सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व के संबंध को स्पष्ट करता है।[30] न्गूगी वा थ्योंगो ने भाषायी उपनिवेशवाद के माध्यम से भाषा और सांस्कृतिक प्रभुत्व के संबंध को रेखांकित किया है।[31] आशीष नंदी ने औपनिवेशिक मनोविज्ञान के विश्लेषण के माध्यम से मानसिक उपनिवेशवाद और सांस्कृतिक पहचान के प्रश्नों को सामने रखा है।[32] इन अध्ययनों ने यह स्थापित किया कि शिक्षा की संरचना को उसके व्यापक ऐतिहासिक एवं राजनीतिक संदर्भों से पृथक करके नहीं समझा जा सकता।

इक्कीसवीं शताब्दी में वैश्वीकरण, ज्ञान-अर्थव्यवस्था तथा डिजिटल प्रौद्योगिकियों ने शिक्षा और संस्कृति के संबंधों को नई दिशा प्रदान की है। मैनुएल कास्टेल्स ने नेटवर्क समाज की अवधारणा के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि डिजिटल संचार प्रणालियाँ ज्ञान के उत्पादन और प्रसार की प्रकृति को मौलिक रूप से परिवर्तित कर

रही हैं।[33] अर्जुन अप्पादुरई ने वैश्विक सांस्कृतिक प्रवाहों के माध्यम से स्थानीय और वैश्विक संस्कृतियों के अंतर्संबंधों को समझाया।[34] ज़िग्मुंट बाउमन ने तरल आधुनिकता (Liquid Modernity) के संदर्भ में सांस्कृतिक अस्थिरता और पहचान के प्रश्नों को रेखांकित किया।[35] इन विचारों से स्पष्ट होता है कि समकालीन शिक्षा केवल राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर संचालित प्रक्रिया नहीं रह गई है, बल्कि वैश्विक सांस्कृतिक अंत:क्रियाओं का सक्रिय अंग बन चुकी है।

हाल के वर्षों में प्रकाशित अंतरराष्ट्रीय अध्ययनों ने यह संकेत दिया है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्लेटफॉर्म, एल्गोरिद्मिक अनुशंसा प्रणालियाँ तथा डेटा-आधारित शिक्षण प्रक्रियाएँ शिक्षा की प्रकृति को तीव्रता से परिवर्तित कर रही हैं। यूनेस्को ने भविष्य की शिक्षा को सामाजिक अनुबंध के पुनर्निर्माण से जोड़ते हुए शिक्षा में लोकतांत्रिक सहभागिता, सांस्कृतिक विविधता और मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना पर बल दिया है।[36] यूनेस्को ने जनरेटिव कृत्रिम बुद्धिमत्ता के संदर्भ में नैतिकता, समावेशन और उत्तरदायित्व को शिक्षा-नीति की केंद्रीय प्राथमिकता बताया है।[37] इसी प्रकार OECD ने यह रेखांकित किया है कि डिजिटल दक्षताओं के विकास के साथ-साथ आलोचनात्मक चिंतन, सांस्कृतिक साक्षरता और वैश्विक नागरिकता जैसी क्षमताएँ भविष्य की शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं।[38]

भारतीय शिक्षा-विमर्श में नई शिक्षा नीति 2020 ने बहुविषयक शिक्षा, भारतीय ज्ञान-परंपरा, मातृभाषा, समावेशी शिक्षा, कौशल विकास, अनुसंधान तथा वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है।[39] इस नीति पर उपलब्ध समकालीन शोध यह स्वीकार करता है कि शिक्षा को केवल आर्थिक विकास का साधन मानना पर्याप्त नहीं है; उसे सांस्कृतिक विविधता, सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक नागरिकता तथा सतत् विकास के व्यापक उद्देश्यों के साथ भी जोड़ा जाना आवश्यक है। तथापि अनेक विद्वानों ने नीति के क्रियान्वयन और क्षेत्रीय असमानताओं जैसी चुनौतियों की ओर भी संकेत किया है।[40] डिजिटल विभाजन तथा संस्थागत संसाधनों की विषमता भी नीति के प्रभावी क्रियान्वयन के समक्ष महत्वपूर्ण चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं।[41]

उपलब्ध साहित्य का समग्र विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि शिक्षा और संस्कृति के संबंध पर पर्याप्त वैचारिक एवं अनुभवजन्य अध्ययन उपलब्ध हैं, किंतु अधिकांश शोध शिक्षा को या तो सांस्कृतिक संरक्षण, सामाजिक पुनरुत्पादन अथवा नीतिगत सुधार के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करते हैं। अपेक्षाकृत कम अध्ययन शिक्षा को एक ऐसी गतिशील

सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जो ऐतिहासिक, राजनीतिक, तकनीकी और सांस्कृतिक परिवर्तनों के मध्य सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का सक्रिय माध्यम बनती है। प्रस्तुत अध्ययन इसी वैचारिक दिशा में योगदान करते हुए शिक्षा को सांस्कृतिक पुनरुत्पादन की सीमित अवधारणा से आगे बढ़ाकर सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के एक समन्वित, लोकतांत्रिक और परिवर्तनकारी प्रतिमान के रूप में प्रतिपादित करता है।

प्रस्तावित प्रतिमान : सांस्कृतिक पुनर्निर्माण मॉडल

उपरोक्त सैद्धांतिक संश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत अध्ययन शिक्षा–संस्कृति संबंध को समझने हेतु एक त्रि–स्तरीय वैचारिक प्रतिमान प्रस्तावित करता है। यह प्रतिमान शिक्षा को तीन परस्पर संबद्ध किन्तु क्रमिक प्रक्रियाओं—सांस्कृतिक संरक्षण, आलोचनात्मक मध्यस्थता तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के मध्य सक्रिय सेतु के रूप में प्रस्तुत करता है। प्रत्येक चरण शिक्षा की एक विशिष्ट भूमिका को अभिव्यक्त करता है तथा विभिन्न शैक्षिक सिद्धांतों एवं सांस्कृतिक विमर्शों से प्रेरित है। इस मॉडल का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि शिक्षा केवल सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण करने का माध्यम नहीं है, बल्कि वह सामाजिक असमानताओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए नवीन, लोकतांत्रिक एवं समावेशी सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया को भी संचालित करती है। प्रस्तावित प्रतिमान का सार तालिका 1 में प्रस्तुत है–

तालिका 1 : सांस्कृतिक पुनर्निर्माण मॉडल

चरण	प्रमुख प्रक्रिया	सैद्धांतिक आधार	शैक्षिक अभिव्यक्ति
सांस्कृतिक संरक्षण	सांस्कृतिक स्मृति, भाषा मूल्यों का संवहन	Tylor (1871); Dewey (1916)	पाठ्यचर्या में परंपरा, भाषा एवं एवं स्थानीय ज्ञान का समावेश
आलोचनात्मक मध्यस्थता	ज्ञान की वैधता एवं सत्ता–का आलोचनात्मक	Gramsci (1971); Bourdieu &Passeron (1977); Freire (1970)	आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र, संबंधों संवाद–आधारित अधिगम परीक्षण तथा वैकल्पिक दृष्टिकोण
सांस्कृतिक पुनर्निर्माण	नए सांस्कृतिक अर्थों, लोक–तांत्रिक मूल्यों एवं समावेशी नागरिकता का सृजन	Apple (2019); Giroux (2020); UNESCO (2021)	सामाजिक बहुलता डिजिटल नागरिकता तथा सामाजिक न्याय आधारित शिक्षा–नीति

स्रोत: लेखक द्वारा विकसित वैचारिक प्रतिमान (2026)

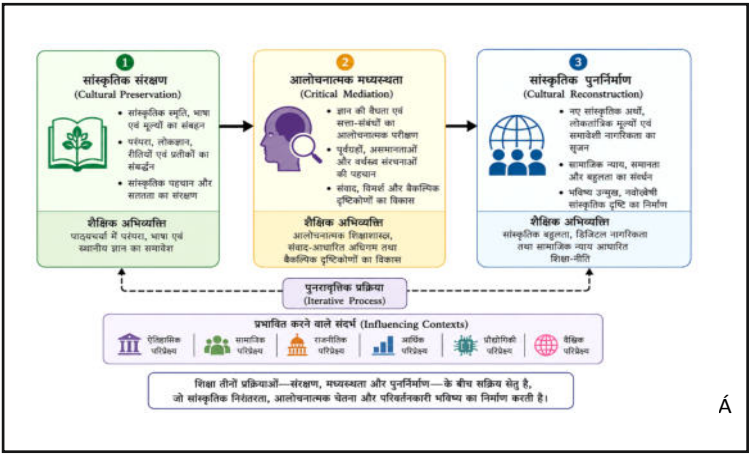

चित्र 1 : सांस्कृतिक पुनर्निर्माण मॉडल (The Cultural Reconstruction Model)

प्रस्तावित मॉडल यह दर्शाता है कि शिक्षा की प्रक्रिया रैखिक (Linear) न होकर पुनरावृत्तिक (Iterative) एवं गतिशील (Dynamic) है। सांस्कृतिक संरक्षण, आलोचनात्मक मध्यस्थता तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण तीनों प्रक्रियाएँ परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं तथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं तकनीकी परिवर्तनों के अनुरूप निरंतर विकसित होती रहती हैं। सांस्कृतिक संरक्षण समाज की ऐतिहासिक स्मृति, भाषा और मूल्यों को अगली पीढ़ियों तक पहुँचाने का कार्य करता है; आलोचनात्मक मध्यस्थता इन मूल्यों तथा ज्ञान-संरचनाओं का समालोचनात्मक परीक्षण कर सामाजिक विषमताओं और सत्ता-संबंधों को उजागर करती है; जबकि सांस्कृतिक पुनर्निर्माण इन दोनों प्रक्रियाओं के आधार पर लोकतांत्रिक, समावेशी एवं न्यायोन्मुख सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार यह मॉडल शिक्षा को केवल ज्ञान-संचरण की प्रक्रिया न मानकर सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक नवाचार तथा उत्तरदायी नागरिकता के निर्माण का प्रमुख माध्यम मानता है।

शिक्षा और संस्कृति : वैचारिक आधार एवं सांस्कृतिक संवहन

शिक्षा और संस्कृति का संबंध मानव सभ्यता के विकास के साथ निरंतर विकसित होने वाला एक बहुआयामी सामाजिक, ऐतिहासिक तथा दार्शनिक संबंध है। किसी भी समाज की संस्कृति केवल उसके धार्मिक विश्वासों, परंपराओं अथवा कलात्मक अभिव्यक्तियों तक सीमित नहीं होती, बल्कि वह उसके ज्ञान-संसार, भाषा, सामाजिक व्यवहार, नैतिक मूल्यों, राजनीतिक संस्थाओं तथा जीवन-दृष्टि का समेकित रूप होती है। इसी प्रकार शिक्षा केवल ज्ञान के औपचारिक हस्तांतरण की प्रक्रिया नहीं है; वह उन

सांस्कृतिक अर्थों, सामाजिक अनुभवों और मानवीय मूल्यों का निर्माण, पुन:व्याख्या तथा पुनर्सृजन भी करती है जिनके आधार पर समाज अपनी सामूहिक पहचान का विकास करता है।[42] शिक्षा और संस्कृति की यह अंत:क्रिया सामाजिक पहचान के निर्माण तथा पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित करती है।[43]

संस्कृति की शास्त्रीय समाजशास्त्रीय अवधारणा प्रस्तुत करते हुए एडवर्ड बी. टायलर ने इसे ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रीति-रिवाज तथा समाज के सदस्य के रूप में अर्जित सभी क्षमताओं और आदतों की समष्टि के रूप में परिभाषित किया।[44] यद्यपि यह परिभाषा संस्कृति की व्यापकता को स्पष्ट करती है, समकालीन सांस्कृतिक अध्ययन यह स्वीकार करता है कि संस्कृति केवल संरक्षित विरासत नहीं होती; वह निरंतर संवाद, संघर्ष, परिवर्तन और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भी है।[45] इस दृष्टि से संस्कृति को स्थिर इकाई के रूप में नहीं, बल्कि गतिशील सामाजिक निर्माण (Social Construction) के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है।[46]

शिक्षा इसी सांस्कृतिक गतिशीलता की केंद्रीय संस्था है। समाज अपनी सांस्कृतिक स्मृति, नैतिक मानदंडों, भाषायी परंपराओं तथा बौद्धिक उपलब्धियों का संवहन शिक्षा के माध्यम से करता है; किन्तु शिक्षा केवल संरक्षण का कार्य नहीं करती। वह यह भी निर्धारित करती है कि कौन-सा ज्ञान वैध माना जाएगा, किन मूल्यों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होगी तथा किन सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को भविष्य की पीढ़ियों तक पहुँचाया जाएगा। इसलिए शिक्षा सांस्कृतिक चयन (Cultural Selection), सांस्कृतिक वैधीकरण (Cultural Legitimation) और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण (Cultural Reconstruction)—तीनों प्रक्रियाओं में समान रूप से सहभागी होती है।[47] सांस्कृतिक वैधीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की संस्थागत भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती है।[48]

एंटोनियो ग्राम्शी ने शिक्षा को सांस्कृतिक वर्चस्व के निर्माण का महत्त्वपूर्ण माध्यम माना।[49] उनके अनुसार प्रभुत्व केवल राजनीतिक या आर्थिक शक्ति के माध्यम से स्थापित नहीं होता, बल्कि शिक्षा, भाषा और संस्कृति के द्वारा सामाजिक सहमति का निर्माण करके भी उसे स्थायित्व प्रदान किया जाता है। इसके विपरीत आलोचनात्मक शिक्षा सामाजिक चेतना का विकास कर विद्यमान सत्ता-संरचनाओं पर प्रश्न उठाने की क्षमता भी विकसित करती है। इसी क्रम में पियरे बुरदिये और जाँ-क्लोद पासेरों ने सांस्कृतिक पूंजी तथा सामाजिक पुनरुत्पादन की अवधारणाओं के माध्यम से यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा अनेक बार सामाजिक असमानताओं को पुनरुत्पादित करती है।[50] तथापि यह निष्कर्ष शिक्षा

की परिवर्तनकारी संभावनाओं को समाप्त नहीं करता; बल्कि यह संकेत देता है कि शिक्षा की संरचना, पाठ्यचर्या और शिक्षण-पद्धति को अधिक समावेशी और लोकतांत्रिक बनाया जाना आवश्यक है।

आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में पाउलो फ्रेरे ने शिक्षा को संवाद, सहभागिता और आलोचनात्मक चेतना के विकास की प्रक्रिया माना।[51] उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल तथ्यों का संप्रेषण नहीं, बल्कि ऐसी वैचारिक क्षमता का विकास है जिसके माध्यम से व्यक्ति सामाजिक यथार्थ का आलोचनात्मक परीक्षण कर सके। इस दृष्टि से शिक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन का निष्क्रिय माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक पुनर्निर्माण की सक्रिय प्रक्रिया बन जाती है। यही दृष्टिकोण प्रस्तुत अध्ययन के केंद्रीय प्रतिपाद्य का भी आधार है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा और संस्कृति का संबंध अत्यंत प्राचीन एवं बहुआयामी रहा है। वैदिक तथा उपनिषदिक परंपराओं में शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि आत्मानुशासन, नैतिक विकास, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा जीवन-मूल्यों की स्थापना था। 'सा विद्या या विमुक्तये' का सिद्धांत शिक्षा को मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक मुक्ति के साथ जोड़ता है, जबकि उपनिषदों की संवाद-परंपरा ज्ञान को प्रश्न, तर्क और आत्मान्वेषण की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार बौद्ध परंपरा ने तर्कशीलता और अनुभव पर बल दिया तथा भक्ति एवं सूफी परंपराओं ने शिक्षा को सामाजिक समावेशन और सांस्कृतिक संवाद के व्यापक संदर्भ से जोड़ा। इस प्रकार भारतीय शिक्षा-परंपरा स्वयं एक बहुलतावादी सांस्कृतिक परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है।

फिर भी भारतीय प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था का मूल्यांकन संतुलित ऐतिहासिक दृष्टि से किया जाना आवश्यक है। गुरुकुल परंपरा ने ज्ञान, अनुशासन, नैतिकता तथा शिक्षक-शिष्य संबंधों की समृद्ध परंपरा विकसित की, किन्तु विभिन्न ऐतिहासिक कालों में शिक्षा तक पहुँच सामाजिक स्थिति, लिंग तथा जातीय संरचनाओं से भी प्रभावित रही। अतः प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था को पूर्णतः आदर्श अथवा पूर्णतः सीमित व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने के स्थान पर उसके ऐतिहासिक संदर्भ, उपलब्धियों तथा सीमाओं—दोनों का सम्यक् विश्लेषण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।[52] ऐतिहासिक संदर्भ में शिक्षा तक पहुँच की सामाजिक सीमाओं का विश्लेषण भी आवश्यक है।[53]

समकालीन शिक्षा-विमर्श में संस्कृति का प्रश्न केवल विरासत के संरक्षण तक सीमित नहीं रह गया है। डिजिटल प्रौद्योगिकी, वैश्विक संचार, प्रवासन, कृत्रिम बुद्धिमत्ता

तथा ज्ञान-अर्थव्यवस्था ने सांस्कृतिक अनुभवों को निरंतर पुनर्परिभाषित किया है। ऐसी स्थिति में शिक्षा का दायित्व केवल सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखना नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विविधता, लोकतांत्रिक संवाद, आलोचनात्मक चिंतन तथा वैश्विक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलन स्थापित करना भी है।[54] यदि शिक्षा विविध सांस्कृतिक परंपराओं के बीच संवाद स्थापित करती है, तो वह सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक लोकतंत्र को सुदृढ़ करती है; किन्तु यदि वह केवल एकरूप सांस्कृतिक दृष्टिकोण को संस्थागत वैधता प्रदान करती है, तो वह बहुलतावादी समाज में असमानताओं और बहिष्करण को भी बढ़ा सकती है।[55]

अत: शिक्षा और संस्कृति का संबंध स्थिर, एकरेखीय अथवा एकांगी नहीं है। शिक्षा संस्कृति का प्रतिबिंब अवश्य है, किन्तु उससे कहीं अधिक वह उसके चयन, पुनर्व्याख्या, आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन और पुनर्निर्माण की सतत् प्रक्रिया है। यही कारण है कि किसी भी समाज की सांस्कृतिक दिशा अंतत: उसकी शिक्षा-दृष्टि, पाठ्यचर्या, ज्ञान-व्यवस्था और लोकतांत्रिक मूल्यों से गहराई से जुड़ी होती है। प्रस्तुत अध्ययन इसी वैचारिक आधार पर शिक्षा को सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की सक्रिय सामाजिक शक्ति के रूप में प्रतिपादित करता है।

औपनिवेशिक शिक्षा और सांस्कृतिक विच्छेदन

भारतीय शिक्षा के इतिहास में औपनिवेशिक काल केवल प्रशासनिक परिवर्तन का चरण नहीं था, बल्कि ज्ञान, भाषा, संस्कृति और सामाजिक चेतना के पुनर्गठन का एक निर्णायक दौर भी था। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत शिक्षा को केवल साक्षरता या प्रशासनिक दक्षता विकसित करने के साधन के रूप में नहीं, बल्कि औपनिवेशिक शासन की वैचारिक वैधता स्थापित करने वाली संस्था के रूप में भी विकसित किया गया।[56] परिणामस्वरूप शिक्षा की संरचना, पाठ्यचर्या, भाषिक प्राथमिकताएँ तथा ज्ञान की वैधता से जुड़े मानदंडों में व्यापक परिवर्तन हुए, जिनका प्रभाव भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरचना पर दीर्घकालिक रूप से पड़ा।[57]

थॉमस बैबिंगटन मैकॉले (मिनिट ऑन इंडियन एजुकेशन, 1835) को भारतीय औपनिवेशिक शिक्षा नीति का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ माना जाता है। इस दस्तावेज़ में अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान को भारतीय शिक्षा के केंद्र में स्थापित करने का स्पष्ट आग्रह दिखाई देता है।[58] इसका उद्देश्य केवल आधुनिक शिक्षा का विस्तार नहीं था, बल्कि ऐसा मध्यवर्ती शिक्षित वर्ग तैयार करना भी था जो औपनिवेशिक प्रशासन और भारतीय

समाज के बीच वैचारिक एवं प्रशासनिक सेतु का कार्य कर सके। इस नीति ने भारतीय भाषाओं, स्थानीय ज्ञान-परंपराओं तथा पारंपरिक शिक्षण संस्थाओं को क्रमशः हाशिये पर पहुँचा दिया। फलस्वरूप शिक्षा में ज्ञान की वैधता का आधार स्थानीय बौद्धिक परंपराओं के स्थान पर औपनिवेशिक ज्ञान-संरचना बनने लगा।

उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन इस परिवर्तन को केवल भाषा परिवर्तन के रूप में नहीं, बल्कि ज्ञान के औपनिवेशीकरण (Colonisation of Knowledge) की व्यापक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। एडवर्ड सईद ने ओरिएंटलिज़्म (Orientalism) में स्पष्ट किया कि औपनिवेशिक शासन ने पूर्वी समाजों के बारे में विशेष प्रकार का ज्ञान निर्मित किया, जिसने राजनीतिक प्रभुत्व को वैचारिक वैधता प्रदान की।[59] इसी प्रकार न्गूगी वा थ्योंगो ने भाषा को सांस्कृतिक स्वायत्तता का आधार मानते हुए यह प्रतिपादित किया कि औपनिवेशिक भाषायी प्रभुत्व स्थानीय सांस्कृतिक चेतना और आत्मबोध को कमजोर करता है।[60] भारतीय संदर्भ में यह विमर्श विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षा के माध्यम से भाषायी प्राथमिकताओं में आए परिवर्तन ने ज्ञान, प्रतिष्ठा और सामाजिक गतिशीलता के नए मानदंड निर्मित किए।

फ्रांत्ज़ फैनन ने औपनिवेशिक शासन के मनोवैज्ञानिक प्रभावों की चर्चा करते हुए 'मानसिक उपनिवेशवाद' की अवधारणा को प्रमुखता दी।[61] उनके अनुसार उपनिवेशित समाज अनेक बार औपनिवेशिक मूल्यों और सांस्कृतिक मानकों को श्रेष्ठ मानने लगता है तथा अपनी भाषाओं, परंपराओं और ज्ञान-प्रणालियों के प्रति हीनताबोध विकसित कर लेता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में आशीष नंदी ने भी औपनिवेशिक शासन को केवल राजनीतिक प्रभुत्व नहीं, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के पुनर्गठन की प्रक्रिया के रूप में समझाया।[62] इन दृष्टिकोणों से स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शिक्षा का प्रभाव विद्यालयों तक सीमित नहीं था; उसने समाज की सांस्कृतिक आत्म-छवि, भाषायी व्यवहार तथा ज्ञान के मूल्यांकन की प्रक्रियाओं को भी गहराई से प्रभावित किया।

हालाँकि औपनिवेशिक शिक्षा का मूल्यांकन एकांगी दृष्टि से नहीं किया जा सकता। इसी शिक्षा के माध्यम से आधुनिक विज्ञान, तर्कशीलता, संवैधानिक विचार, मुद्रण संस्कृति, सार्वजनिक विमर्श तथा आधुनिक राष्ट्रवाद की चेतना को भी व्यापक आधार मिला। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिराव फुले, सावित्रीबाई फुले तथा डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे अनेक भारतीय चिंतकों ने आधुनिक शिक्षा को सामाजिक सुधार, समानता और न्याय के संघर्ष से जोड़ा। इसलिए औपनिवेशिक शिक्षा को केवल

सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया मानना उतना ही अधूरा होगा जितना उसे केवल आधुनिकता का वाहक मानना। वस्तुत: यह एक विरोधाभासी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी, जिसने एक ओर औपनिवेशिक सत्ता-संरचना को सुदृढ़ किया, तो दूसरी ओर उसी व्यवस्था के भीतर सामाजिक आलोचना और राष्ट्रीय चेतना के लिए वैचारिक आधार भी निर्मित किया।[63] इस प्रक्रिया ने आधुनिक शिक्षा के माध्यम से सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना के विकास की संभावनाएँ भी उत्पन्न कीं।[64]

समकालीन शिक्षा-विमर्श में औपनिवेशिक विरासत का प्रश्न नई प्रासंगिकता प्राप्त कर चुका है। पाठ्यचर्या, भाषा-नीति, ज्ञान की वैधता, अनुसंधान की प्राथमिकताएँ तथा विश्वविद्यालयी संरचनाएँ आज भी अनेक स्तरों पर औपनिवेशिक प्रभावों से संवाद करती दिखाई देती हैं। यूनेस्को तथा हाल के डिकोलोनियल (Decolonial) विमर्श इस बात पर बल देते हैं कि शिक्षा-व्यवस्था को विविध ज्ञान-परंपराओं, स्थानीय भाषाओं तथा सांस्कृतिक अनुभवों को समान वैधता प्रदान करनी चाहिए, ताकि ज्ञान का लोकतंत्रीकरण केवल संस्थागत विस्तार तक सीमित न रहकर वैचारिक समावेशन का भी माध्यम बन सके।[65]

भारतीय शिक्षा के समकालीन पुनर्विचार—विशेषत: राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020—में भारतीय ज्ञान-परंपरा, मातृभाषा, बहुभाषिकता तथा स्थानीय ज्ञान-संसाधनों पर दिया गया बल आंशिक रूप से इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है।[66] तथापि किसी भी प्रकार का पुनर्संतुलन तभी सार्थक होगा जब वह अतीत के गौरव और आधुनिक वैश्विक ज्ञान—दोनों के बीच संतुलित संवाद स्थापित करे। डिकोलोनाइजेशन का उद्देश्य किसी एक ज्ञान-परंपरा को दूसरी से प्रतिस्थापित करना नहीं, बल्कि ज्ञान की बहुलता, आलोचनात्मक विवेक और बौद्धिक समानता को संस्थागत आधार प्रदान करना है।

अत: औपनिवेशिक शिक्षा भारतीय संस्कृति के लिए केवल विच्छेदन का कारण नहीं थी, बल्कि उसने सांस्कृतिक संघर्ष, वैचारिक पुनर्समीक्षा और आधुनिक पुनर्निर्माण की जटिल प्रक्रियाओं को भी जन्म दिया। प्रस्तुत अध्ययन के केंद्रीय प्रतिपाद्य के अनुरूप यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक अनुभव ने शिक्षा को संस्कृति के निष्क्रिय प्रतिबिंब से आगे बढ़ाकर सांस्कृतिक पुनर्परिभाषा और पुनर्निर्माण के ऐतिहासिक क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया। इसी प्रक्रिया ने स्वतंत्र भारत में शिक्षा को सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक नागरिकता और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के व्यापक एजेंडे से जोड़ने की आधारभूमि तैयार की।

स्वतंत्र भारत, राष्ट्र-निर्माण और शिक्षा का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

इक्कीसवीं शताब्दी में वैश्वीकरण ने शिक्षा और संस्कृति के संबंधों को

अभूतपूर्व रूप से परिवर्तित किया है। संचार प्रौद्योगिकी, मुक्त बाज़ार, वैश्विक ज्ञान-अर्थव्यवस्था तथा डिजिटल नेटवर्कों के विस्तार ने शिक्षा को राष्ट्रीय सीमाओं से परे एक वैश्विक बौद्धिक व्यवस्था का हिस्सा बना दिया है।[67] इस परिवर्तन ने शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य, पाठ्यचर्या, ज्ञान-उत्पादन तथा सांस्कृतिक अंत:क्रियाओं को नई दिशा प्रदान की है।[68] परिणामस्वरूप शिक्षा अब केवल राष्ट्रीय सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण का माध्यम नहीं रही, बल्कि वैश्विक, स्थानीय और डिजिटल संस्कृतियों के मध्य निरंतर संवाद, प्रतिस्पर्धा तथा पुनर्निर्माण का सक्रिय क्षेत्र बन गई है।

वैश्वीकरण के साथ विकसित नवउदारवादी (Neoliberal) आर्थिक दृष्टिकोण ने शिक्षा को सार्वजनिक कल्याण की अवधारणा से आंशिक रूप से हटाकर प्रतिस्पर्धात्मक दक्षता, उत्पादकता, नवाचार तथा मानव पूंजी निर्माण के परिप्रेक्ष्य में पुनर्परिभाषित किया।[69] ज्ञान को आर्थिक संसाधन तथा शिक्षा को निवेश के रूप में देखने की प्रवृत्ति ने विश्वविद्यालयों, अनुसंधान संस्थानों तथा शैक्षिक नीतियों पर गहरा प्रभाव डाला।[70] इसके परिणामस्वरूप शिक्षा में गुणवत्ता, उत्तरदायित्व और वैश्विक प्रतिस्पर्धा जैसे सकारात्मक आयाम सुदृढ़ हुए, किन्तु इसके साथ ही बाज़ारीकरण, संस्थागत असमानता तथा शिक्षा के वस्तुकरण (Commodification of Education) की प्रवृत्तियाँ भी उभरकर सामने आईं। इवान इलिच ने संस्थागत शिक्षा की सीमाओं की ओर संकेत करते हुए चेतावनी दी थी कि यदि शिक्षा का उद्देश्य केवल प्रमाणपत्र, प्रतिस्पर्धा और संस्थागत नियंत्रण तक सीमित हो जाए, तो वह व्यक्ति की रचनात्मकता और सामाजिक स्वतंत्रता को सीमित कर सकती है।[71] समकालीन संदर्भ में यह आलोचना और अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है, क्योंकि अनेक देशों में शिक्षा पर बाज़ारोन्मुख नीतियों, रैंकिंग प्रणालियों तथा प्रदर्शन-आधारित मूल्यांकन का प्रभाव बढ़ा है। शिक्षा का उद्देश्य यदि केवल रोजगारपरक दक्षता तक सीमित रह जाए, तो मानवीय मूल्य, नागरिक चेतना, सांस्कृतिक संवेदनशीलता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे व्यापक शैक्षिक उद्देश्य कमजोर पड़ सकते हैं।

पियरे बुरदिये और जाँ-क्लोद पासेरों ने शिक्षा को सामाजिक पुनरुत्पादन की प्रक्रिया के रूप में समझाते हुए यह प्रतिपादित किया कि शैक्षिक संस्थाएँ अनेक बार विद्यमान सामाजिक संरचनाओं को वैधता प्रदान करती हैं।[72] वैश्वीकरण के संदर्भ में यह विश्लेषण और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि वैश्विक शिक्षा बाज़ार तक पहुँच सभी सामाजिक समूहों के लिए समान नहीं है। आर्थिक, भाषायी, डिजिटल तथा सामाजिक संसाधनों की असमान उपलब्धता अनेक शिक्षार्थियों को वैश्विक अवसरों से वंचित कर

सकती है। अत: शिक्षा में समान अवसर केवल संस्थानों की संख्या बढ़ाने से सुनिश्चित नहीं होते; इसके लिए सांस्कृतिक पूंजी, डिजिटल पहुँच तथा सामाजिक समावेशन के प्रश्नों पर भी समान रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

डिजिटल प्रौद्योगिकियों ने शिक्षा के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। ऑनलाइन शिक्षण, मुक्त शैक्षिक संसाधन (Open Educational Resources), वर्चुअल कक्षाएँ, डिजिटल पुस्तकालय तथा वैश्विक अधिगम मंचों ने ज्ञान तक पहुँच का अभूतपूर्व विस्तार किया है। विशेषत: कोविड-19 महामारी के पश्चात डिजिटल शिक्षा विश्वभर में मुख्यधारा की शैक्षिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई। इस परिवर्तन ने शिक्षा के लोकतंत्रीकरण की नई संभावनाएँ प्रस्तुत कीं, क्योंकि भौगोलिक सीमाएँ ज्ञान तक पहुँच की प्रमुख बाधा नहीं रहीं।[73]

इसके साथ ही डिजिटल परिवर्तन ने अनेक नई चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। डिजिटल विभाजन (Digital Divide), एल्गोरिद्मिक पक्षपात (Algorithmic Bias), प्लेटफॉर्म-आधारित अधिगम, डेटा-निगरानी तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित शिक्षण प्रणालियाँ शिक्षा की प्रकृति को गहराई से प्रभावित कर रही हैं। आज ज्ञान का उत्पादन और प्रसार केवल शिक्षकों एवं विश्वविद्यालयों तक सीमित नहीं रह गया है; डिजिटल प्लेटफॉर्म, वैश्विक प्रौद्योगिकी कंपनियाँ तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित प्रणालियाँ भी ज्ञान के चयन, प्रस्तुतीकरण और प्रसार में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। इस स्थिति को अनेक विद्वान 'डिजिटल उपनिवेशवाद' (Digital Colonialism) तथा 'प्लेटफॉर्म पूंजीवाद' (Platform Capitalism) के व्यापक संदर्भ में भी देखते हैं, जहाँ ज्ञान-संसाधनों, डिजिटल अवसंरचना तथा डेटा पर सीमित संस्थागत नियंत्रण नई प्रकार की सांस्कृतिक और आर्थिक असमानताओं को जन्म दे सकता है।[74]

जनरेटिव कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Generative Artificial Intelligence) ने शिक्षा के समक्ष नई संभावनाएँ और नई नैतिक चुनौतियाँ दोनों प्रस्तुत की हैं। वैयक्तिकृत अधिगम, अनुवाद, अनुसंधान-सहायता तथा ज्ञान की त्वरित उपलब्धता जैसे सकारात्मक आयामों के साथ-साथ शैक्षणिक सत्यनिष्ठा, बौद्धिक स्वामित्व, पक्षपातपूर्ण एल्गोरिद्म, गलत सूचना तथा आलोचनात्मक चिंतन के क्षरण जैसी चिंताएँ भी उभरकर सामने आई हैं। यूनेस्को ने स्पष्ट किया है कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता का उपयोग मानवीय मूल्यों, समावेशन, पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व के सिद्धांतों के अनुरूप होना चाहिए ताकि शिक्षा का मानवीय चरित्र सुरक्षित रह सके।[75]

इन परिवर्तनों के बीच शिक्षा की सांस्कृतिक भूमिका और अधिक व्यापक हो जाती है। अब शिक्षा का उद्देश्य केवल सांस्कृतिक परंपराओं का संरक्षण नहीं, बल्कि स्थानीय ज्ञान और वैश्विक ज्ञान के मध्य रचनात्मक संवाद स्थापित करना, सांस्कृतिक विविधता का सम्मान करना, डिजिटल साक्षरता का विकास करना तथा आलोचनात्मक नागरिकता को सुदृढ़ करना भी है। यूनेस्को द्वारा प्रतिपादित 'नई सामाजिक संविदा' (New Social Contract for Education) इसी बात पर बल देती है कि भविष्य की शिक्षा सहयोग, लोकतंत्र, सांस्कृतिक विविधता तथा सतत् विकास के साझा मूल्यों पर आधारित होनी चाहिए।[76]

अत: वैश्वीकरण को केवल शिक्षा के बाज़ारीकरण अथवा सांस्कृतिक समरूपीकरण की प्रक्रिया के रूप में समझना पर्याप्त नहीं है। यह एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसने शिक्षा के समक्ष अभूतपूर्व अवसरों और गंभीर चुनौतियों—दोनों को समान रूप से उपस्थित किया है। प्रस्तुत अध्ययन के केंद्रीय प्रतिपाद्य के अनुरूप यह कहा जा सकता है कि यदि शिक्षा आलोचनात्मक विवेक, सांस्कृतिक बहुलता, डिजिटल नैतिकता और सामाजिक न्याय को केंद्र में रखती है, तो वैश्वीकरण सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का सशक्त माध्यम बन सकता है; अन्यथा वही प्रक्रिया ज्ञान के वस्तुकरण, सांस्कृतिक असमानताओं तथा डिजिटल प्रभुत्व को और अधिक गहरा कर सकती है। इसलिए समकालीन शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य वैश्विक प्रतिस्पर्धा और मानवीय संस्कृति के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए ऐसी ज्ञान-व्यवस्था का निर्माण करना होना चाहिए जो लोकतांत्रिक, समावेशी और सांस्कृतिक रूप से उत्तरदायी हो।

शिक्षा और सांस्कृतिक लोकतंत्र : पुनर्निर्माण की दिशा में शिक्षा की भूमिका

सांस्कृतिक लोकतंत्र का आशय केवल विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं के अस्तित्व को स्वीकार करना नहीं है, बल्कि ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय को अपनी भाषा, ज्ञान-परंपरा, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तथा बौद्धिक सहभागिता के समान अवसर प्राप्त हों। इस दृष्टि से सांस्कृतिक लोकतंत्र राजनीतिक लोकतंत्र का पूरक नहीं, बल्कि उसका आधारभूत सामाजिक आयाम है। यदि लोकतंत्र नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्रदान करता है, तो सांस्कृतिक लोकतंत्र उन अधिकारों को वास्तविक सामाजिक अर्थ प्रदान करता है। शिक्षा इसी सांस्कृतिक लोकतंत्रीकरण की केंद्रीय संस्था है, क्योंकि वह ज्ञान के उत्पादन, प्रसार और वैधता की प्रक्रियाओं को प्रभावित करती है।

प्रस्तुत अध्ययन का केंद्रीय प्रतिपाद्य यही है कि शिक्षा केवल विद्यमान संस्कृति

का प्रतिबिंब नहीं होती, बल्कि वह सांस्कृतिक अर्थों, सामाजिक मूल्यों और लोकतांत्रिक व्यवहारों के पुनर्निर्माण की सक्रिय प्रक्रिया है। शिक्षा यह निर्धारित करती है कि समाज किन ज्ञान-परंपराओं को मान्यता देगा, किन भाषाओं को संस्थागत प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, किन सामाजिक समूहों को प्रतिनिधित्व मिलेगा तथा नागरिकता की अवधारणा किस प्रकार विकसित होगी। इसलिए शिक्षा की प्रकृति अंततः किसी भी समाज के सांस्कृतिक लोकतंत्र की गुणवत्ता को प्रभावित करती है।[77] शिक्षा की यह भूमिका सांस्कृतिक सहभागिता और लोकतांत्रिक नागरिकता के विकास से भी गहराई से जुड़ी हुई है।[78]

आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में पाउलो फ्रेरे ने शिक्षा को संवाद, सहभागिता और मुक्ति की प्रक्रिया माना।[79] उनके अनुसार लोकतांत्रिक समाज का निर्माण तभी संभव है जब शिक्षा शिक्षार्थियों को केवल सूचना ग्रहण करने वाला निष्क्रिय माध्यम न बनाए, बल्कि उन्हें सामाजिक संरचनाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करने और परिवर्तनकारी भूमिका निभाने के लिए सक्षम बनाए। यही विचार एंटोनियो ग्राम्शी की सांस्कृतिक वर्चस्व संबंधी अवधारणा से भी जुड़ता है, जहाँ शिक्षा प्रभुत्वशाली विचारों के पुनरुत्पादन का माध्यम होने के साथ-साथ वैकल्पिक लोकतांत्रिक चेतना के निर्माण का भी क्षेत्र बन सकती है।[80]

भारतीय संदर्भ में सांस्कृतिक लोकतंत्र की अवधारणा बहुलतावादी सामाजिक संरचना से गहराई से जुड़ी हुई है। भाषायी, धार्मिक, जातीय, क्षेत्रीय तथा सांस्कृतिक विविधताओं से निर्मित भारतीय समाज में शिक्षा का दायित्व केवल साझा राष्ट्रीय पहचान विकसित करना नहीं, बल्कि विविधताओं के सम्मान, संवाद और सहभागिता की संस्कृति को भी संस्थागत आधार प्रदान करना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शिक्षा को भयमुक्त, सृजनशील और सार्वभौमिक मानवीय चेतना के विकास का माध्यम माना, जबकि महात्मा गांधी ने नैतिक आत्मनिर्माण, श्रम की गरिमा तथा सामुदायिक जीवन को शिक्षा का आधार बताया। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने शिक्षा को सामाजिक न्याय और समान अवसरों की आधारशिला के रूप में स्थापित किया। इन सभी दृष्टिकोणों का साझा तत्व यह है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक समाज का निर्माण है।

जॉन डूई के अनुसार विद्यालय स्वयं एक लोकतांत्रिक समुदाय होना चाहिए जहाँ संवाद, सहयोग और सहभागिता का निरंतर अभ्यास हो।[81] समकालीन संदर्भ में यह विचार और अधिक प्रासंगिक हो जाता है क्योंकि शिक्षा अब केवल भौतिक कक्षाओं तक सीमित नहीं रही; डिजिटल प्लेटफॉर्म, आभासी अधिगम वातावरण तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता

आधारित शिक्षण प्रणालियाँ भी लोकतांत्रिक सहभागिता को प्रभावित कर रही हैं। इसलिए आज सांस्कृतिक लोकतंत्र का अर्थ डिजिटल नागरिकता, मीडिया साक्षरता, एल्गोरिद्मिक पारदर्शिता तथा ज्ञान तक समान पहुँच से भी जुड़ गया है।[82]

वैश्वीकरण और डिजिटल परिवर्तन के वर्तमान दौर में शिक्षा के समक्ष दो परस्पर संबंधित दायित्व उभरते हैं। पहला, वह स्थानीय भाषाओं, सांस्कृतिक परंपराओं और विविध ज्ञान-प्रणालियों का संरक्षण एवं पुनर्सृजन करे; दूसरा, वह शिक्षार्थियों में वैश्विक नागरिकता, अंतर्सांस्कृतिक संवाद, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व तथा मानवीय सहअस्तित्व की चेतना विकसित करे। यूनेस्को द्वारा प्रतिपादित 'नई सामाजिक संविदा' (New Social Contract for Education) इसी संतुलन पर बल देती है कि भविष्य की शिक्षा प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग, बहिष्करण के स्थान पर समावेशन तथा सांस्कृतिक एकरूपता के स्थान पर बहुलता को प्रोत्साहित करे।[83]

इसी संदर्भ में सांस्कृतिक स्थिरता (Cultural Sustainability) का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यदि शिक्षा स्थानीय सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करते हुए नवाचार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और लोकतांत्रिक मूल्यों का समन्वय करती है, तो वह सांस्कृतिक परिवर्तन को सामाजिक प्रगति का माध्यम बना सकती है। इसके विपरीत यदि शिक्षा केवल बाज़ारोन्मुख दक्षताओं या सांस्कृतिक एकरूपता पर केंद्रित हो जाती है, तो लोकतांत्रिक समाज की बहुलतावादी आधारभूमि कमजोर हो सकती है। अत: शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य परंपरा और आधुनिकता, स्थानीयता और वैश्विकता, विज्ञान और मानवीय मूल्यों तथा प्रौद्योगिकी और नैतिक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलित संवाद स्थापित करना होना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन के समेकित विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक लोकतंत्र कोई स्थिर सामाजिक अवस्था नहीं, बल्कि निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया है, और शिक्षा उसका सबसे प्रभावशाली माध्यम है। शिक्षा जब आलोचनात्मक चिंतन, सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक बहुलता, संवैधानिक मूल्यों तथा लोकतांत्रिक सहभागिता को समान महत्व देती है, तब वह संस्कृति का केवल संरक्षण नहीं करती, बल्कि उसके पुनर्निर्माण की सक्रिय सामाजिक शक्ति बन जाती है। यही इस अध्ययन का केंद्रीय वैचारिक निष्कर्ष है और इसी आधार पर शिक्षा को सांस्कृतिक लोकतंत्र के निर्माण की आधारभूत संस्था के रूप में पुनर्परिभाषित किया जा सकता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि शिक्षा और संस्कृति के संबंध को केवल सांस्कृतिक संरक्षण या पुनरुत्पादन तक सीमित करके नहीं समझा जा सकता। ऐतिहासिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय तथा समकालीन शैक्षिक विमर्शों के समेकित विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि शिक्षा संस्कृति के निर्माण, पुनर्व्याख्या और पुनर्निर्माण की सक्रिय सामाजिक प्रक्रिया है। यही इस अध्ययन का केंद्रीय वैचारिक प्रतिपाद्य है।

उपलब्ध साहित्य में शिक्षा को प्रायः दो दृष्टिकोणों से देखा गया है—एक, सांस्कृतिक संरक्षण एवं सामाजिक निरंतरता के माध्यम के रूप में, और दूसरा, सामाजिक पुनरुत्पादन, सांस्कृतिक वर्चस्व तथा संरचनात्मक असमानताओं के संदर्भ में।[84] प्रस्तुत अध्ययन इन दोनों दृष्टिकोणों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए तर्क देता है कि समकालीन समाज की जटिलताओं में शिक्षा इन सीमाओं से आगे बढ़कर सांस्कृतिक पुनर्निर्माण, लोकतांत्रिक चेतना और सांस्कृतिक बहुलता को सक्रिय रूप से आकार देती है।[85]

यह अध्ययन पूर्ववर्ती साहित्य का विस्तार करते हुए शिक्षा को विभिन्न ऐतिहासिक चरणों के पृथक विश्लेषण के बजाय एक सतत् सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा, औपनिवेशिक शिक्षा, स्वतंत्र भारत, वैश्वीकरण, डिजिटल परिवर्तन तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 को एकीकृत विश्लेषणात्मक ढाँचे में जोड़कर शिक्षा के विकास को निरंतरता और परिवर्तन की संयुक्त प्रक्रिया के रूप में समझाया गया है।

सैद्धांतिक स्तर पर यह अध्ययन ग्राम्शी के विचारों का भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में समन्वित पुनर्पाठ प्रस्तुत करता है।[86] बुरदिये के विचार इस पुनर्पाठ को सामाजिक पुनरुत्पादन और सांस्कृतिक पूंजी के विश्लेषण से समृद्ध करते हैं।[87] फ्रेरे की आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र की अवधारणा शिक्षा की परिवर्तनकारी क्षमता को समझने का आधार प्रदान करती है।[88] ड्यूई के लोकतांत्रिक शिक्षा संबंधी विचार शिक्षा और नागरिक सहभागिता के संबंध को स्पष्ट करते हैं।[89] एप्पल के विचार पाठ्यचर्या, ज्ञान और सत्ता के अंतर्संबंधों को समझने में सहायता प्रदान करते हैं।[90] गिरू का दृष्टिकोण शिक्षा की लोकतांत्रिक तथा सार्वजनिक भूमिका को रेखांकित करता है।[91] इसके आधार पर शिक्षा को ऐसी सामाजिक संस्था माना गया है जो केवल सत्ता-संबंधों का पुनरुत्पादन नहीं करती, बल्कि आलोचनात्मक चेतना, सांस्कृतिक बहुलता और लोकतांत्रिक सहभागिता के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की भी वाहक बनती है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म, ज्ञान-अर्थव्यवस्था और वैश्विक सांस्कृतिक अंत:क्रियाओं ने शिक्षा की भूमिका को और व्यापक बनाया है। अब शिक्षा केवल ज्ञान तक पहुँच का माध्यम नहीं, बल्कि ज्ञान की वैधता, सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व, डिजिटल समानता और लोकतांत्रिक सहभागिता का भी आधार है। इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 यह संकेत देती है कि शिक्षा का मूल्यांकन केवल आर्थिक उत्पादकता से नहीं, बल्कि उसके सांस्कृतिक, लोकतांत्रिक और मानवीय प्रभावों के आधार पर भी किया जाना चाहिए।[92]

इस अध्ययन का प्रमुख सैद्धांतिक योगदान 'सांस्कृतिक पुनर्निर्माण (Cultural Reconstruction)' प्रतिमान का प्रतिपादन है, जो शिक्षा को संस्कृति के निष्क्रिय प्रतिबिंब के स्थान पर सामाजिक परिवर्तन के सक्रिय माध्यम के रूप में स्थापित करता है। यह प्रतिमान शिक्षा को अतीत और भविष्य, परंपरा और नवाचार, स्थानीयता और वैश्विकता तथा सांस्कृतिक विविधता और लोकतांत्रिक नागरिकता के मध्य एक सृजनात्मक सेतु के रूप में पुनर्परिभाषित करता है। परिणामत: शिक्षा को केवल शैक्षिक संस्था नहीं, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन की आधारभूत सामाजिक शक्ति के रूप में समझना आज की प्रमुख वैचारिक आवश्यकता है।

प्रस्तुत अध्ययन का मूल प्रतिपाद्य यह है कि शिक्षा और संस्कृति के संबंध को केवल सांस्कृतिक संरक्षण अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्पादन की पारंपरिक अवधारणाओं तक सीमित करके नहीं समझा जा सकता। ऐतिहासिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय तथा समकालीन शैक्षिक विमर्शों के समेकित विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा समाज की सांस्कृतिक स्मृति का संवहन करने के साथ-साथ उसके पुनर्निर्माण, पुनर्व्याख्या और लोकतांत्रिक विस्तार की भी सक्रिय प्रक्रिया है। इस प्रकार शिक्षा संस्कृति का दर्पण अवश्य है, किंतु उससे कहीं अधिक वह उसका शिल्पकार भी है।

अध्ययन ने यह प्रदर्शित किया कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-परंपरा में शिक्षा को ज्ञान, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व के समन्वित माध्यम के रूप में विकसित किया गया था। औपनिवेशिक काल में शिक्षा ने एक ओर आधुनिक ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा प्रशासनिक संरचनाओं का परिचय कराया, वहीं दूसरी ओर भाषायी प्रभुत्व, ज्ञान की असमान वैधता तथा मानसिक उपनिवेशवाद जैसी प्रक्रियाओं को भी जन्म दिया। स्वतंत्र भारत में शिक्षा को लोकतांत्रिक राष्ट्र-निर्माण, सामाजिक न्याय तथा संवैधानिक मूल्यों के संवर्धन का आधार बनाया गया, जबकि वैश्वीकरण, डिजिटल प्रौद्योगिकी और कृत्रिम

बुद्धिमत्ता ने शिक्षा के समक्ष नए अवसरों के साथ नई सांस्कृतिक चुनौतियाँ भी प्रस्तुत कीं। प्रस्तुत अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण वैचारिक योगदान शिक्षा को 'सांस्कृतिक पुनर्निर्माण' के प्रतिमान के माध्यम से पुनर्परिभाषित करना है। यह प्रतिमान इस धारणा से आगे बढ़ता है कि शिक्षा केवल विद्यमान सामाजिक संरचनाओं का पुनरुत्पादन करती है। इसके विपरीत अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि शिक्षा आलोचनात्मक चेतना, सांस्कृतिक बहुलता, लोकतांत्रिक सहभागिता तथा सामाजिक न्याय के माध्यम से समाज के सांस्कृतिक विकास को सक्रिय रूप से दिशा प्रदान करती है। यही इस शोध पत्र का प्रमुख सैद्धांतिक तथा वैचारिक योगदान है।

समकालीन विश्व में जहाँ ज्ञान-अर्थव्यवस्था, वैश्वीकरण, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल मंचों तथा तीव्र सांस्कृतिक अंत:क्रियाओं ने शिक्षा के स्वरूप को व्यापक रूप से परिवर्तित किया है, वहाँ शिक्षा की भूमिका केवल तकनीकी दक्षता या आर्थिक प्रतिस्पर्धात्मकता तक सीमित नहीं रह सकती। उसे सांस्कृतिक विविधता, मानवीय गरिमा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, संवैधानिक मूल्यों, डिजिटल उत्तरदायित्व तथा वैश्विक नागरिकता के मध्य संतुलन स्थापित करने वाली सामाजिक संस्था के रूप में विकसित होना होगा। यही संतुलन भविष्य की लोकतांत्रिक और समावेशी शिक्षा की आधारशिला है।

अंतत: यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शिक्षा को सांस्कृतिक लोकतंत्र की आधारभूत संस्था के रूप में पुनर्स्थापित किए बिना न तो समावेशी समाज की कल्पना संभव है और न ही सतत् एवं न्यायपूर्ण विकास की। यदि शिक्षा बहुलतावादी सांस्कृतिक दृष्टि, आलोचनात्मक चिंतन, संवाद, नैतिक उत्तरदायित्व तथा सामाजिक सहभागिता को समान रूप से प्रोत्साहित करती है, तो वह बदलती वैश्विक परिस्थितियों में भी मानवीय संस्कृति के सतत् पुनर्निर्माण का सबसे प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो सकती है। इसलिए शिक्षा का भविष्य केवल ज्ञान के विस्तार में नहीं, बल्कि ऐसी सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में निहित है जो परंपरा और आधुनिकता, स्थानीयता और वैश्विकता, विज्ञान और मानवीय मूल्यों के मध्य रचनात्मक संतुलन स्थापित कर सके। यही शिक्षा की वास्तविक परिवर्तनकारी शक्ति है और यही प्रस्तुत अध्ययन का अंतिम निष्कर्ष भी है।

संदर्भ

1. *बृहदारण्यक उपनिषद्,* 1.3.28 ('तमसो मा ज्योतिर्गमय...')।
2. यूनेस्को, *रीइमैजिनिंग आवर फ्यूचर्स टुगेदर: ए न्यू सोशल कॉन्ट्रैक्ट फॉर एजुकेशन,* यूनेस्को पेरिस, 2021, पृ. 5-8

3. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (OECD), एजुकेशन एट अ ग्लांस 2023: ओ ई सी डी इंडिकेटर्स, ओ ई सी डी, पब्लिशिंग पेरिस, 2023, पृ. 15–27
4. ग्राम्शी, एंटोनियो, *सेलेक्शन्स फ्रॉम द प्रिजन नोटबुक्स,* संपा. एवं अनुवाद: क्वेंटिन होअर तथा जेफ्री नोवेल स्मिथ, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1971, पृ. 323–343
5. फ्रेरे, पाउलो, *पेडागॉजी ऑफ द ओप्रेस्ड,* अनुवाद: मायरा बर्गमैन रामोस, *न्यूयॉर्क कंटिन्यूअम,* 1970, पृ. 79–86
6. बुरदिये, पियरे एवं जाँ–क्लोद पासेरों, *रिप्रोडक्शन इन एजुकेशन, सोसाइटी एंड कल्चर,* अनुवाद: रिचर्ड नाइस, सेज पब्लिकेशन्स, लंदन , 1977, पृ. 31–68
7. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,* शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 3–14
8. ग्राम्शी, एंटोनियो, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
9. बुरदिये, पियरे, एवं जाँ–क्लोद पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 31–68
10. फ्रेरे, पाउलो, *न्यूयॉर्क कंटिन्यूअम,* पृ. 66–86
11. ड्यूई, जॉन, *डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन,* मैकमिलन न्यूयॉर्क, 1916, पृ. 87–116
12. एप्पल, माइकल डब्ल्यू., *आइडियोलॉजी एंड करिकुलम,* चौथा संस्करण, रूटलेज पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 2019, पृ. 57–84
13. गिरू, हेनरी ए., *ऑन क्रिटिकल पेडागॉजी,* द्वितीय संस्करण, ब्लूम्सबरी अकादमिक, न्यूयॉर्क, 2020, पृ. 1–32
14. बर्नस्टीन, बेसिल, *क्लास, कोड्स एंड कंट्रोल,* खंड 3, रूटलेज एंड कीगन पॉल लंदन, 1975, पृ. 85–126
15. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू., *ओरिएंटलिज़्म,* पैंथियन बुक्स न्यूयॉर्क, 1978, पृ. 1–28
16. न्गूगी वा थ्योंगो, *डीकोलोनाइजिंग द माइंड,* जेम्स करी, लंदन, 1986, पृ. 4–33
17. नंदी, आशीष, *द इंटिमेट एनिमी: लॉस एंड रिकवरी ऑफ सेल्फ अंडर कॉलोनियलिज़्म,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1983, xi–30
18. कास्टेल्स, मैनुएल, *द राइज़ ऑफ द नेटवर्क सोसाइटी,* द्वितीय संस्करण, वाइली–ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, 2010, पृ. 69–108
19. टायलर, एडवर्ड बी., *प्रिमिटिव कल्चर,* खंड 1, जॉन मरे, लंदन, 1871, पृ. 1–25

20. ड्यूई, जॉन, *डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन,* पृ. 1–28
21. ग्राम्शी, एंटोनियो, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
22. बुरदिये, पियरे, एवं जाँ–क्लोद पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 7–30
23. ग्राम्शी, *सेलेक्शन्स फ्रॉम द प्रिजन नोटबुक्स,* पृ. 323–343
24. बुरदिये एवं पासेरों, *रिप्रोडक्शन इन एजुकेशन,* पृ. 71–95
25. फ्रेरे, पाउलो, पूर्वोक्त, पृ. 71–86
26. एप्पल, माइकल डब्ल्यू., पूर्वोक्त, पृ. 25–55
27. गिरू, हेनरी ए., *ऑन क्रिटिकल पेडागॉजी,* द्वितीय संस्करण, ब्लूम्सबरी अकादमिक, न्यूयॉर्क , 2020, पृ. 1–26
28. बर्नस्टीन, बेसिल, *क्लास, कोड्स एंड कंट्रोल,* खंड 3, रूटलेज एंड कीगन पॉल लंदन, 1975, पृ. 85–126
29. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,* शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, भारत सरकार, 2020, पृ. 3–24
30. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू., *ओरिएंटलिज़्म,* पैंथियन बुक्स, न्यूयॉर्क, 1978, पृ. 1–28
31. न्गूगी वा थ्योंगो, *डीकोलोनाइजिंग द माइंड,* जेम्स करी, लंदन, 1986, पृ. 4–33
32. आशीष नंदी, पूर्वोक्त, xi–25
33. कास्टेल्स, मैनुएल, *द राइज़ ऑफ द नेटवर्क सोसाइटी,* द्वितीय संस्करण, पृ. 69–108
34. अप्पादुरई, अर्जुन, *मॉडर्निटी एट लार्ज: कल्चरल डाइमेंशन्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन,* यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस मिनियापोलिस, 1996, पृ. 27–47
35. बाउमन, ज़िग्मुंट, *लिक्विड मॉडर्निटी,* पॉलिटी प्रेस कैम्ब्रिज, 2000, पृ. 1–15
36. यूनेस्को, *रीइमैजिनिंग आवर फ्यूचर्स टुगेदर: ए न्यू सोशल कॉन्ट्रैक्ट फॉर एजुकेशन,* यूनेस्को पेरिस, 2021, पृ. 1–8, 49–55
37. यूनेस्को, *गाइडेंस फॉर जेनरेटिव एआई इन एजुकेशन एंड रिसर्च,* यूनेस्को, 2023, पृ. 7–18
38. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन, *एजुकेशन एट अ ग्लांस : 2023,* ओ ई सी डी इंडिकेटर्स, ओ ई सी डी पब्लिशिंग, 2023,पृ. 15–30

39. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020*, पृ. 3–24
40. यूनेस्को, *रीइमैजिनिंग आवर फ्यूचर्स टुगेदर*, पृ. 49–55
41. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन, ओ ई सी डी इंडिकेटर्स, पृ. 21–35
42. यूनेस्को, पूर्वोक्त, पृ. 1–8
43. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन, ओ ई सी डी पब्लिशिंग पेरिस, 2023, पृ. 15–30
44. टायलर, एडवर्ड बी., पूर्वोक्त, पृ. 1–25
45. ग्राम्शी, एंटोनियो, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
46. बुरदिये, पियरे एवं जाँ–क्लोद पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 7–30
47. ग्राम्शी, एंटोनियो, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
48. बुरदिये, पियरे एवं जाँ–क्लोद पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 71–95
49. ग्राम्शी, एंटोनियो, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
50. बुरदिये, पियरे, एवं जाँ–क्लोद पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 7–30
51. फ्रेरे, पाउलो, पूर्वोक्त, पृ. 71–86
52. टायलर, एडवर्ड बी., *प्रिमिटिव कल्चर*, खंड 1, पृ. 1–25
53. ड्यूई, जॉन, पूर्वोक्त, पृ. 1–28
54. यूनेस्को, पूर्वोक्त, पृ. 49–55
55. यूनेस्को, *गाइडेंस फॉर जेनरेटिव एआई इन एजुकेशन एंड रिसर्च*, यूनेस्को पेरिस, 2023, पृ. 7–18
56. मैकॉले, थॉमस बैबिंगटन, *मिनिट ऑन इंडियन एजुकेशन, 2 फरवरी 1835, सेलेक्शन्स फ्रॉम एजुकेशनल रिकॉर्ड्स*, भाग I ,1781–1839, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, कलकत्ता, 1920, पृ. 107–117
57. वही, पृ. 107–117
58. वही, पृ. 119–120
59. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू., पूर्वोक्त, पृ. 1–28
60. न्यूगी वा थ्योंगो, पूर्वोक्त, पृ. 4–33
61. फैनन, फ्रांत्ज़, *द रैच्ड ऑफ द अर्थ*, ग्रोव प्रेस न्यूयॉर्क, 1963, पृ. 1–52
62. नंदी, आशीष, पूर्वोक्त, xi–25
63. मैकॉले, थॉमस बैबिंगटन, पूर्वोक्त, पृ. 107–117

64. ड्यूई, जॉन, पूर्वोक्त, पृ. 1–28
65. यूनेस्को, पूर्वोक्त, पृ. 49–55
66. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020*, पृ. 3–24
67. कास्टेल्स, मैनुएल, *द राइज़ ऑफ द नेटवर्क सोसाइटी*, पृ. 69–108
68. यूनेस्को, *रीइमैजिनिंग आवर फ्यूचर्स टुगेदर: ए न्यू सोशल कॉन्ट्रैक्ट फॉर एजुकेशन*, पृ. 118–147
69. एप्पल, *आइडियोलॉजी एंड करिकुलम*, पृ. 57–84
70. हार्वे, डेविड, *ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ नियोलिबरलिज़्म*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005, पृ. 1–38
71. इलिच, इवान, *डीस्कूलिंग सोसाइटी, हार्पर एंड रो न्यूयॉर्क*, 1971, पृ. 1–54
72. बुरदिये एवं पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 31–68
73. यूनेस्को, पूर्वोक्त, पृ. 134–147
74. काउल्ड्री, निक एवं उलिसेस ए. मेजियास, *द कॉस्ट्स ऑफ कनेक्शन: हाउ डेटा इज़ कॉलोनाइजिंग ह्यूमन लाइफ एंड एप्रोप्रियेटिंग इट फॉर कैपिटलिज़्म*, स्टैनफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2019, पृ. 1–34
75. यूनेस्को, *गाइडेंस फॉर जेनरेटिव एआई इन एजुकेशन एंड रिसर्च*, यूनेस्को पेरिस, 2023, पृ. 22–34
76. यूनेस्को, पूर्वोक्त, पृ. 90–101
77. एप्पल, माइकल डब्ल्यू., *आइडियोलॉजी एंड करिकुलम*, पृ. 85–116
78. गिरू, हेनरी ए., *ऑन क्रिटिकल पेडागॉजी*, पृ. 33–64
79. फ्रेरे, पाउलो, पूर्वोक्त, पृ. 87–124
80. ग्राम्शी, एंटोनियो, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
81. ड्यूई, जॉन, पूर्वोक्त, पृ. 115–145
82. यूनेस्को, *गाइडेंस फॉर जेनरेटिव एआई इन एजुकेशन एंड रिसर्च*, यूनेस्को पेरिस, 2023, पृ. 46–56
83. यूनेस्को, *रीइमैजिनिंग आवर फ्यूचर्स टुगेदर: ए न्यू सोशल कॉन्ट्रैक्ट फ़ॉर एजुकेशन*, पृ. 148–164
84. ग्राम्शी, पूर्वोक्त, पृ. 323–343
85. बुरदिये एवं पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 31–68

86. ग्राम्शी, पूर्वोक्त, पृ. 12–13, 323–343
87. बुरदिये एवं पासेरों, पूर्वोक्त, पृ. 31–68
88. फ्रेरे, *पेडागॉजी ऑफ द ओप्रेस्ड,* पृ. 87–124
89. ड्यूई, *डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन,* पृ. 115–145
90. एप्पल, *आइडियोलॉजी एंड करिकुलम,* पृ. 85–116
91. गिरू, *ऑन क्रिटिकल पेडागॉजी,* पृ. 33–64
92. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,* पृ. 22–34, 39–45

रिसर्च स्कॉलर
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली